

मीराबाई की प्रेम साधना

डॉ. आर.पी. वर्मा,

एसो. प्रो. एवं अध्यक्ष हिन्दी विभाग,

राजकीय महाविद्यालय गोसाईंखेड़ा,

जनपद—उन्नाव, उ.प्र.

मानव मन विविध भावों का कोष है। प्रेम का भाव इनमें प्रमुख है। प्रेम प्रिय शब्द भाववाचक रूप है। 'प्रिय' शब्द का अर्थ है तृप्ति कारक—प्रीणातीति प्रियः है। अतः प्रेम शब्द से हृदय के तृप्ति रूप आनन्द का बोध होता है। व्याकरण के अनुसार भी इस शब्द की व्युत्पत्ति इसी अर्थ की द्योतिका है। 'पीज प्रीतौ' धातु से उणादि सूत्र 'सर्व धातुभ्यः' से मनिन् प्रत्यय लगाकर 'प्रेम' शब्द बनता है जिसका अर्थ होता है पीति देने वाला, अनन्त तृप्ति प्रदान करने वाला। यही कारण है कि आदिकाल से ही मानव इस भाव की अभिव्यक्ति करता आया है।

संस्कृत साहित्य में सर्वप्रथम यह अभिव्यक्ति ऋग्वेद में पुरुरवा उर्वशी के प्रेमाख्यान में मिलती है। अथर्ववेद में भी प्रेम विषयक कुछ उद्गार मिलते हैं, किन्तु प्रेम, सौन्दर्य और प्रकृति के विश्व कवि हैं। इन्होंने सीता और राम के कविकुल गुरु कालिदास के काव्य में सभी प्रकार की प्रेम विषयक भावनाओं के आन्तरिक एवं वाह्य प्रकार के सौन्दर्य के मार्मिक चित्र उपलब्ध होते हैं। कालिदास की प्रेम दृष्टि पूर्ण सांस्कृतिक और आध्यात्मिक है। भवभूति का प्रेम चित्रण भी सहृदय—संवेद्य, उदात्त और उत्कृष्ट है। अश्वघोष का प्रेम चित्रण भी कालिदास और भवभूति की भांति उदात्त, परिष्कृत और संयत है। संस्कृत साहित्य की यह परम्परा जब जयदेव के हाथों में आती है तो इसकी दिशा ही बदल जाती है। जयदेव के प्रेम वर्णन से यदि आध्यात्मिकता का

आवरण हटा दिया जाये तो वह एकदम लौकिक और अश्लील बन जाता है।

इस प्रकार संस्कृत साहित्य में प्रेम वर्णन की परम्परा के दो रूप मिलते हैं। पहला रूप उदात्त प्रेम का जो आदिकवि से प्रारम्भ होकर अश्वघोष तक मिलता है। दूसरा रूप है लौकिक प्रेम का जो भृहृरि, श्रमरूक तथा जयदेव आदि कवियों में प्राप्त होता है। हिन्दी साहित्य को इन दोनों रूपों ने ही प्रभावित किया है।

प्रेम की परिभाषा भिन्न—भिन्न विद्वानों ने भिन्न—भिन्न शब्दावली में की है। नारद भक्तिसूत्र में प्रेम को अनुभवैकगम्य माना गया है। प्रेम वाणी का विषय नहीं है, वरन् मूकास्वादनवत् अनिवर्चनीय है। यह पहले तो विषयजन्म होता है, गुणों के कारण उत्पन्न होता है किन्तु बाद में भावत्मक, विषय निरपेक्ष बन जाता है।

(अनिवर्चनीयं प्रेमस्वरूपम्। मूकास्वादनवत्।

प्रकाशते क्वापि पात्रे। गुणरहितं कामनारहितं प्रतिक्षणवर्धमानमविच्छिन्नं सूक्ष्मतरमनुभवस्वरूपम्।)

रूपगोस्वामी प्रेम को एक ऐसा सान्द्र भाव मानते हैं जो हृदय को स्निग्ध करे तथा ममत्व के अतिशय से युक्त हो—

'सम्यङ् मसृणितस्वान्तो ममत्वातशयांकितः।

भावः स एव सान्द्रात्मा बुधैः प्रेम निगद्यते।।'

भारतीय आचार्यों की भांति पाश्चात्याचार्यों ने भी प्रेम की अनेक परिभाषाएं की हैं। प्लेटों के अनुसार, प्रेमानुभाव से रहित व्यक्ति सदा अंधकार

में भटकता रहता है। नीत्सो का मत है कि प्रेम से ही हमारे अन्तर्चक्षु खुलते हैं। हेगेल यह मानते हैं कि प्रेम के द्वारा ही अभेद की स्थिति प्राप्त होती है। हैवलॉक वासना और प्रेम में अन्तर मानते हुए कहते हैं कि तुच्छ वासना के रहते हुए प्रेम का कमल नहीं खिल सकता। विलेडीमीर सॉलॉव्येन के अनुसार प्रेम का अर्थ है अहंकार के त्याग द्वारा अपनी मुक्ति।

इन कतिपय परिभाषाओं से ही यह निष्कर्ष निकल आता है कि प्रेम वासना का नाम नहीं है और न स्वयं को आबद्ध करने का बन्धन है, वरन् प्रेम हृदय की वह परिष्कृत है, उदात्त और अनिवर्चनीय भावना है जो मन की शुद्धि करती है, भावों को विशुद्ध करती है और व्यक्ति को अहं के बन्धन से छुड़ाकर उसे सार्वजनीन बना देती है। इसलिए प्रेम में आठ गुणों को माना गया है जो प्रेमी के चित्त का संस्कार करते हैं। ये गुण हैं—उल्लास, ममता, विस्मय, प्रिय के गुणों का अभिमान, चित्त का द्रवीभाव, अतिशय अभिलाषा, प्रिय के विषय में प्रतिक्षण नवनवत्व की अनुभूति और प्रिय सम्बन्धी किसी विलक्षण गुण के कारण उन्माद।

डॉ० मनोहरलाल गौड़ ने प्रेम के तीन भेद माने हैं—उत्तम, मध्यम और निकृष्ट। यह वर्गीकरण सामान्य है, विशेष नहीं। डॉ० रामेश्वर खंडेलवाल ने प्रेम विभाजन के ये आधार माने हैं—

1. व्यक्त या स्थूल (व्यक्ति, पेड़ पौधे व अन्य पदार्थ) के प्रति और अव्यक्त और सूक्ष्म (ईश्वर, कोई भावना, कल्पना या आदर्श) के प्रति प्रेम।
2. जड़ (जहाड़, पेड़-पौधे कोई ग्रन्थ, लेखनी, भवन आदि) के प्रति और चेतन (चेतन मानव और चेतना के क्रम में विकसित जीव—जैसे हाथी, घोड़ा आदि) के प्रति प्रेम तथा
3. बड़े का छोटे के प्रति (पिता का पुत्र के प्रति, गुरु का शिष्य के प्रति वात्सल्य

आदि), छोटे का बड़े के प्रति (श्रद्धा) या समवयस्कों का परस्पर, एक दूसरे के प्रति (मैत्री, सख्य, प्रणय आदि) प्रेम।

वर्गीकरण का यह आधार भी सन्तोषजनक नहीं है, जैसा कि स्वयं डॉ० खंडेलवाल ने स्वीकार किया है। वस्तुतः प्रेम के दो भेद हैं—पार्थिव प्रेम और अपार्थिव प्रेम। साहित्य में इन्हीं दोनों प्रकारों का वर्णन होता है। यहां पर यह भी उल्लेख है कि पार्थिव अथवा अपार्थिव प्रेम के भेद का आधार आलम्बन की पार्थिवता अथवा अपार्थिवता पर निर्भर है।

पार्थिक प्रेम के दो भेद हैं—प्रकृत प्रेम और साहित्य प्रेम। इन्हें अंग्रेजी साहित्य में 'नैच्यूरल लव' (छंजनतंस स्वअम) और 'प्लेटोनिक लव' (छंसंजवदपब स्वअम) कहा गया है। सहज मानव प्रेम ही प्रकृत प्रेम है। पार्थिव आलंबन के प्रति पार्थिव आश्रय की सहज वासनात्मक प्रणयाभिव्यक्तियां इसी प्रेम के अन्तर्गत आती हैं। दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि नर नारी की सहज प्रीति ही प्रकृत प्रेम है। ऐसे प्रेम का आधार पार्थिव होता है, अतः शरीर सुख की उत्कृष्ट इच्छा से प्रेरित होकर जिस प्रेम का निवेदन किया जाता है, वह स्वभावतः ही वासनात्मक होता है। रीतिकालीन काव्य में ऐसी ही वासनात्मक प्रेम की अभिव्यक्ति है। छायावाद की अपार्थिव प्रणयाभिव्यक्ति की प्रतिक्रिया के छायावादोत्तर काल का बच्चन, अंचल, नरेन्द्र शर्मा आदि अनेक तरुण कवियों ने अपने गीतों में सहज वासना का चित्रण किया है।

सात्विक प्रेम इस प्रेम से भिन्न है। प्लेटो ने आत्मा की प्रीति वर्णन किया है। उसने पार्थिव आलंबन के प्रति अशरीरी आकांक्षा अथवा वासना मुक्त शुद्ध प्रीति और शुद्ध राग को ही साहित्य प्रेम की संज्ञा दी है। सहज ऐन्द्रिय सुख से ऊपर का प्रेम ही आत्मा की प्रीति है। ऐसे प्रेम में वस्तुतः वासना का परिष्कार एवं उन्नयन हो जाता है और वह वासना त्याग तथा संयम का प्रतिरूप

बन जाती है। छायावादी काव्य से पूर्व द्विवेदी युग का प्रेम इसी कोटि का है। श्रीधर पाठक, रामनरेश त्रिपाठी इत्यादि कवियों की रचनाओं में अशरीरी आकर्षण का ही चित्रण मिलता है। रीति काव्य में घनानन्द का प्रेम स्थान स्थान पर इसी कोटि में पहुंच गया है। रोमानी कवियों के प्रेम की सात्विकता स्पष्ट है। गौतम के प्रति यशोधरा का प्रेम, लक्ष्मण के प्रति उर्मिला का प्रेम, त्याग और संयम द्वारा उदात्तीकृत प्रेम है।

जिस प्रेम का आलम्बन अपार्थिव हो, उसे अपार्थिव प्रेम कहते हैं अपार्थिव प्रेम को चार वर्गों में विभक्त किया जा सकता है।

ऐसी प्रेमाभिव्यक्ति सगुण साकार के प्रति ही सम्भव है। अतः सगुण और साकार अपार्थिव आलम्बन आश्रय की भावना के लिए नितान्त आवश्यक है। पार्वतीशिव, राधाकृष्ण, सीताराम का शक्ति और परम पुरुष के रूप में वर्णन अपार्थिव प्रणयमूलक प्रेम है। 'कुमारसंभव' में शिव पार्वती की रति भावना का उद्रेक यही प्रेम है। 'गीतगोविन्द' में ऐसे ही प्रेम का चित्रण है। हिन्दी में विद्यापति, सूर आदि ने इसी वासना परक अपार्थिव प्रेम का अंकन किया है।

इस प्रेम में पार्थिव आश्रय सगुण और साकार अपार्थिव आश्रय में वासना का आरोप कर लेता है। फलतः ऐसे काव्य में ऐन्द्रिय भावना का समावेश हो जाता है, किन्तु आलम्बन की अपार्थिवता के कारण ऐन्द्रिय भावना उदात्त रूप में ही व्यक्त होती है।

पार्थिव आश्रय का रति भाव साकार के प्रति ही सम्भव है, निराकार के प्रति नहीं। इसका कारण यह है कि निराकार ब्रम्ह प्रेम का आश्रय नहीं हो सकता। प्रेम के लिए प्रतिपादन, प्रतिक्रिया आवश्यक है जो सगुण द्वारा ही सम्भव है, निर्गुण द्वारा नहीं। अतः साहित्य में कई स्थानों पर अपार्थिव आलम्बन को सगुण निराकार रूप में चित्रित करके आत्मा का उसमें रतिभाव आरोपित

किया गया है। सूफी कवियों की प्रेममयी तथा सन्त कवियों की रहस्यमयी भक्ति ऐसी ही है।

निर्गुण और निराकार के प्रति रति भाव का प्रदग्धन नहीं हो सकता, अतः इस प्रकार से प्रेम को आनन्द मग्नता की संज्ञा दी जाती है। ज्ञान मूलक होने के कारण इसे प्रेम के क्षेत्र से बाहर की वस्तु माना जा सकता है, किन्तु तथ्य यह नहीं है। इस अपार्थिव सम्बन्ध में भावना की मग्नता है, इसलिए इसे प्रेम ही कहा जाएगा। उपनिषद आदि में आत्मा के इसी आनन्द की व्याख्या की गई है।

प्रेम के स्वरूप और वर्गीकरण का प्रतिपादन करने के पश्चात अब यह देखना है कि मीरा की प्रेम साधना का स्वरूप क्या है? वह साधना किस वर्ग के अन्तर्गत आती है और प्रेम के गुणों का उसमें कहां तक समावेश हो सका है?

प्रेम और भक्ति एक ही साधना के दो अंग हैं। लोक में जो प्रेम अपनी पराकाष्ठा में वासना में परिणत होता है, अध्यात्मिक क्षेत्र में वही प्रेम भक्ति का रूप धारण करता है। यही कारण है कि प्रत्येक भक्त कवि ने अपने अपने ढंग से प्रेम का स्वरूप निर्धारित किया है तथा उसकी अभिव्यक्ति की है। कबीरदास ने प्रेम के स्वरूप का विश्लेषण करते हुए बताया है कि प्रेम की उपलब्धि आसान नहीं है। इसे तो वही प्राप्त कर सकता है जो स्वयं को बलिदान करने के लिए समुद्यत रहे—

**“यह तो घर है प्रेम का, खाला का घर नाहि।
सीस उतारे भुईं धरे, तब पैठे घर मांहि।।”**

सूफी कवि तो प्रेम की पीर के ही गायक हैं। जिस प्रकार कबीर का यह विश्वास है कि केवल प्रेम के ढाई अक्षर से ही ब्रह्म की प्राप्ति हो सकती है उसी प्रकार सूफी कवि भी यह मानते हैं कि प्रेम की पीर को सहन किये बिना परम सत्ता से सम्मिलन नहीं हो सकता। सूफी कवि जायसी

तो यहां तक कहते हैं कि प्रेमावस्था बड़ी विचित्र है, इसमें प्राणी न तो जीवित ही रह सकता है और न मर ही सकता है—

“पेस घाव दुख जान न कोई। जेहि लागै जानै ते सोई।।

परा सो प्रेम समुद्र अपारा। लहरहिं लहर होई विसभारा।।

बिरह भौर होई भांवरि देई। खिन जीउ हिलोरा लेई।।

कठिन मरन ते प्रेम बेवस्था। जा जिए जियै, न बसवै अवस्था।।”

तुलसी का आदर्श निरूपण तो हिन्दी साहित्य में अपने ही ढंग का है। उनका प्रतीक चातक है जो अथाह सागर में भी प्यासा मर जाता है, किन्तु स्वाति नक्षत्र की बूंद को छोड़कर और कहीं का पानी ग्रहण नहीं करता। वैष्णव कवि का प्रेमादर्श भी इतना ही कठिन है। सूरदास जी कहते हैं कि प्रेम करके संसार में किसी को भी सूख नहीं मिला। जिसने भी प्रेम किया, उसे ही दुःख उठाना पड़ा बल्कि अपना बलिदान करना पड़ा—

“प्रीति करि काहू सुख न लह्यौ।

प्रीति पतंग करी पावक सौं, आपै प्रान बह्यौ।।

अलि सुत प्रीति करी जल सुत सौं, संपुट मांझ गह्यौ।

सारंग प्रीति करी जु नाद सौं, सन्मुख बाल सह्यौ।।”

मीरा का प्रेम रहस्य निरूपण भी इसी प्रकार का है। वे भी मानती हैं कि प्रेम की पीड़ा सहन करना कठिन होता है।

“लागी सोही जाणै, कठण लगण दी पीर।

विपन पड्या कोइ निकट न आवै, सुख में सबकी

सीर।।

बाहिर घर कछू नहिं दीसै, रोम रोम दी पीर।

जन मीरां गिरधर के ऊपर, सबके करुं सरीर।।”

इस ‘कठण लगण’ के लिए मीरा को क्या कुछ नहीं सहना पड़ा। लोकनिन्दा हुई, परिजनों ने त्याग दिया, राणा ने विष का प्याला भेजा विषधर भेजा तथा और भी अनेक प्रकार की यन्त्रणाएं दी, किन्तु मीरा इन आपदाओं से अवगत थीं। विष के प्याले को चरणामृत समझकर हंसते हंसते पी गई। विषधर की सुमनमाला मानकर गले में धारण किया। वास्तविकता तो यह है कि सच्चा प्रेम न तो मान मर्यादा के सम्बन्ध को स्वीकारता है और न समाज की सीमित परिधियों को। उसका तो केवल एक लक्ष्य होता है और वह उस लक्ष्य की ओर समस्त बाधाओं को लांघता हुआ अग्रसर हुआ करता है। मीरा को भी अनेक आपदाएं लांघनी पड़ीं। भव्य राजमहल छोड़ना पड़ा, कुल की परम्परित मर्यादा को तिलांजलि देनी पड़ी। तभी तो भक्तिमाल के लेखक नाभादास को लिखना पड़ा—

“सदरिस गोपिन प्रेम प्रगट, कलजुगहिं दिखायो।

निर अंकुस अति निडर, रसिक जस रसना गायो।।

दुष्टिन दोष विचारि, मृत्यु को उद्यम कीयो।

बार न बांको भयो, गरल अमृत ज्यों पीयो।।

भक्ति निसान बजाय के, काहू ते नांही खजी।

लोक लाज कुल श्रंखला तजि मीरां गिरधर भजी।।”

वर्गीकरण की दृष्टि से मीरा का प्रेम सगुण साकार अपार्थिव आलम्बन के प्रति दाम्पत्य प्रणयानुभूति के वर्ग में आता है। मीरां के आराध्य का स्वरूप क्या है? यह प्रश्न कुछ देर के लिए विवादास्पद हो सकता है, क्योंकि इनके पदों में नाथ पंथी और निर्गुणिये सन्तों का भी पर्याप्त

प्रभाव है, किन्तु अन्ततोगत्वा यही निष्कर्ष कनकलता है कि इनका आराध्य अन्य कृष्ण भक्तों के आराध्य से भिन्न नहीं है, अर्थात् यह सगुण और साकार है। इसी प्रियतम के प्रति मीर ने अपना दाम्पत्य भाव प्रकट किया है और स्वयं को इन्होंने उनकी इस जन्म की ही नहीं, 'जनम जनम की दासी' बताया है।

अब देखना यह है कि शास्त्रानुसार प्रेम के जो उल्लास, ममता, विनम्र अभिमान, द्रवीभाव, अतिशय अभिलाषा, नवनवत्व की भावना और उन्माद ये आठ गुण माने जाते हैं, इनकी उपलब्धि मीरां की प्रेम साधना में होती है या नहीं।

उल्लास पात्र की व्यंजक प्रीति को रति कहते हैं। इसके उत्पन्न होने से केवल प्रिय के प्रति ही प्रेम होता है, अन्य के प्रति उदासीनता आ जाती है। मीरां के प्रेम में यह गुण मिलता है। जैसे—

**"म्हारां री गिरधर गोपाल दूसरां णा कूयां।
दूसरा णा कूयां साधां सकल लोक जूयां।।"**

मार्कण्डेय पुराण में ममतातिशय को भी प्रेम समृद्धि का कारण माना गया है। इसके उत्पन्न होने पर प्रीति भंग करने के न तो प्रेम के उद्यम को ही कम कर सकते हैं और न उसके स्वरूप को, अर्थात् बार-बार विघ्न पड़ने पर, भी प्रेम समाप्त नहीं होता। यह सर्वविदित है कि मीरां को कृष्ण प्रेम से विमुख करने के लिए राणा जी ने कितने प्रयत्न किये, विष का प्याला भेजा, विषधर भेजा, किन्तु मीरां ने इन सब यन्त्रणाओं को हंसकर सहन किया, पर अपने कृष्ण विषयक प्रेम में तनिक भी कमी नहीं आने दी—

"माई म्हां गोविन्द गुण गाणा।

**राजा रूढ्यां नगरी त्यागी, हरि रूढ्या कहं
जाणा।।**

राणौ भेज्या विषरो प्याला, चरणामृत पी जाणा।।

**काला नाग पिटार्यां भेजा, सालगराम पिछाणा।
मीरां तो अब प्रेम दिवाणीं, सांवलिया वर पाणा।।"**

विश्रंभ का अर्थ है शंका रहित। सच्चे प्रेम में शंका का अभाव अनिवार्य है। मीरां को भी अपने प्रियतम के प्रेम में कोई शंका नहीं है। हां, उपालम्भ देना दूसरी बात है। शंका रहित होकर ही तो मिलना वस्था के ऐसे वर्णन किये जा सकते हैं—

**"जोसीड़ा णे लाख बधाया आस्यां म्हारो स्याम।
म्हारे आणंद उमंग भर्यारी जीव लह्यां सुखधाम।।
पांच सख्यां मिल पीव रिझावां, आर्णेद ठांसूं ठांस।
बिसरि जावां दुख निरखां पियारी, सुफल मनोरथ
काम।।**

**मीरां रे सुख सागर स्वामी, भवण पधार्या
स्याम।।"**

अभिमान या मान प्रेम की परिपुष्टि के लिए आवश्यक माना गया है। इसीलिए आचार्य विश्वनाथ ने लिखा है कि प्रेम की चाल सदा टेढ़ी हुआ करती है। प्रेमी प्रेमिका के हृदय में प्रेम भरा रहने पर भी उनका एक दूसरे से आकरण कोप स्वाभाविक है—

"द्वयोः प्रणयमानः स्यात् प्रमोदे सुमहत्यपि।

प्रेम्णः कुटिलगामित्वात् कोपो य कारणं बिना।।"

मीरां का प्रेम एकांगी है, अर्थात् इसमें केवल विरह का ही वर्णन है। जहां कहीं मिलन का चित्रण है, वह भी वास्तविकता नहीं वरन् काल्पनिक अथवा आशा की परिणति है। इसीलिए मीरां के प्रेम में अभिमान अथवा मान का चित्रण प्रायः नहीं है।

इस गुण के उत्पन्न होने से प्रेमी का मन इतना द्रवीभूत हो जाता है कि वह अपने प्रेमी के सम्बन्ध में आभास से ही पुलकित हो उठता है। मीरां अपने प्रियतम के आने की सूचना से ही उसे मंगल गायन की बेला मान लेती है—

“बरसां री बदरिया सावन की, सावन की मण
भावन री।

सावन मां उमंग्यो म्हारो मण की, भणक सुण्या
हरि भावन री।

उमड़ घुमड़ घण मेघां आयां, दामण घण झर
लावण री।।

बीजां बूँदा मेहां आयां, बरसां सीतल पवण
सुहावण री।

मीरां के प्रभु गिरधरनागर, बेला मंगल गावण
री।।”

प्रेमी से मिलने के लिए जब मन बहुत ही आतुर हो जाता है तो वह अवस्था अतिशय अभिलाषा की होती है। मीरां अपने बिरह में बहुत दुःखी है और किसी न किसी प्रकार उनसे मिलना चाहती है। इनके बिरह वर्णन में यह अतिशय अभिलाषा सर्वत्र परिव्याप्त है। उदाहरणार्थ—

“म्हाणे क्या तरसावां।

थारे कारण कुल जग छाड्या, अब थे क्या
बिसरावां।

बिरह बिथा ल्याया उर अन्तर, थे आस्यां णा
बुझावां।।

अब छाड्या णा बणे मुरारी, सरण गह्यां बड़
जावां।

मीरां दासी जनम जनम री, भगतां पेजणि
पावां।।”

इस गुण के उत्पन्न होने पर राग अनुराग में विकसित होकर प्रिय के विषय में प्रतिक्षण नित नवीनता की भावना की अनुभूति कराता है। संस्कृत के महाकवि माघ तो नित नवीनता को ही सौंदर्य मानते हैं। मीरां भी अपने प्रियतम में नित नवीनता का ही दर्शन करती है। कभी इन्हें कृष्ण

का वह रूप दिखाई देता है जिसने कालिया नाग का मर्दन किया था, ध्रुव, प्रह्लाद, अहिल्या आदि का उद्धार किया था और कभी वह रूप दिखाई देता है जो ब्रज बर्निताओं को रिझाता है—

“इण चरण प्रह्लाद परस्यां इन्द्र पदवी धरण।

द्रण चरण ध्रुव अटल करस्यां, सरण असरण
सरण।।

इण चरण कलियां नाथ्यां, गोपीलीला करण।।

माई मेरो मोहने मन हर्यो।

कहा करुं कित जाऊँ सजनी प्रान पुरुष सूं
बर्यो।।”

उन्माद में मन की ऐसी दशा हो जाती है कि संयोग के कल्प निमेष के समान प्रतीत होते हैं और वियोग के निमेष कल्प के समान। मीरां के काव्य में प्रेम का यह गुण भी मिलता है—

“दरस बिण दूखां म्हारां गैण।

सबदां सुणतां मेरी छतियां कांपां मीठो थारो
बैण।।

बिरह बिथा कांसू री कह्यां पेठां करवत औण।

कल णा परतां पल हरि मग जोवां भयां छमासी
रैण।।”

इस विवेचना के उपरान्त यह कहा जा सकता है कि मीरा की प्रेम साधना में शास्त्रीय परिभाषाओं के अनुसार स्वरूप और वर्ग तो मिलते ही हैं, साथ ही इसमें हृदय की जो सहज मंजुल धारा अजस्र प्रवाह से प्रवाहित है, वह मीरां काव्य की अपनी निजी विशेषता है। इस प्रसंग में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के ये शब्द उल्लेख हैं—

कबीर ने भी ‘राम की बहुरिया’ बनकर अपने प्रेमभाव की व्यंजना की है, पर ‘माधुर्य भाव’ की जैसी व्यंजन स्त्री भक्तों द्वारा हुई है, वैसी पुरुष भक्तों द्वारा न हुई, न हो सकती है। पुरुषों

के मुख से वह अभिनय के रूप कोमलता आ नहीं सकती। पति प्रेम के रूप में ढले हुए भक्तिरस ने मीरां की संगीत धारा में जो दिव्य माधुर्य बोला है, वह भावुक की ओर कहीं शायद ही मिले।

प्रेम दिवानी मीरां की प्रेम में इन गुणों का, भक्ति रस से परिपूर्ण दिव्य माधुर्य का जो गान सहज स्वाभाविक ही है। यही तो निश्चल प्रेमी हृदय की भाषा है।

संदर्भ

1. भक्त कालीन संत साहित्य— प्रो. वीरेन्द्र नारायण यादव, पृ. 28
2. मीरा पदावली – सं. नीलोत्पल, पृ. 91
3. कृष्ण भक्त मीरा और उनका काव्य – डॉ. आर.पी. वर्मा, पृ. 81
4. मीरा और उनकी पदावली – प्रो. देशराज सिंह भाटी, पृ. 91
5. मीरा का जीवन – अरविन्द सिंह तेजावत, पृ. 68
6. मीरा बाई – डॉ. सुधाकर अदीप, पृ. 45